लोककला की धरा पर बाजार की धारा

हिना यादव (शोध छात्रा)

लोक–कलाओं से मेरा परिचय कब हुआ ये भलिभॉति याद नही परन्तु काफी लम्बे अर्से से इन लोक कलाओं से अपनत्व व अत्मीयता की अनुभूति होती रही है। हालाँकि, मै उत्तर प्रदेश में जन्मी और ग्रामीण परिवेश मे पली–बढ़ी जिससे बचपन से लेकर अब तक के सफर में धर्मिक पूजा–पाठ में हवनकुण्ड की अलंकृत वेदी व आटे की बनी अल्पना (चौक पूरना) से स्वतः ही सम्बन्ध गहराता गया। उस वक्त लोक–कलाओं से अनभिज्ञ होते हुए भी शादी ब्याह में बनने वाले कोहबर, दीवार पर बनने वाले हाँथ के छापे जैसी कलात्मक गतिविधियों में मेरी सक्रिय भागीदारी रही। मुख्यतः यह कार्य घर की बड़ी महिलाओं के हुआ करते थे फिर भी मेरी स्वाभाविक ललक व जन्मजात कला के बीज (जो मेरे अन्दर उस परमात्मा ने बोए थे) समय के साथ उन्मेषित होने लगे थे। उत्तर प्रदेश की लोक परम्पराओं में ,चौक पूरना, अहोई ,सॉझी व दिवाली पर चौकी सजाना बहुत प्रिय रहा है।

कला चाहे आदिकाल की हो, या आधुनिक वह सदैव मानव जीवन को ऊपर उठाती है। लोक–कलाओं की अगर बात की जाए तो यें कुछ साम्यता प्रागैतिहासिक कला से रखती हैं। सामान्य अर्थो में किसी विशिष्ट क्षेत्र के लोगो से जुड़ी हुई कला ही लोककला कहलाती है। लोक कलाओं में समाहित बिम्ब, अभिप्राय तथा प्रतीक आम लोगो की निजी अभिव्यक्ति होती है जो उनके सादे, सरल एवं सादगी भरे जीवन को प्रतिविम्बित करती है। आडम्बर, उलझन, तनाव और औपचारिकता से सर्वथा दूर जो हमारी आज की सभ्यता को बुरी तरह ग्रसित किए हुए हैं। लोगो के अन्तः–मन से अंकुरित हुई कला उनकी जीवन–शैली, उनके विश्वास, उनके अनुष्ठान उनकी विशिष्ट संस्कृति के प्रमाण–चिन्ह है। लोक कलाएँ कभी भी तकनीक, वाद या कला के रूप की पेचीदगियों में नही फँसी। यहाँ तक कि लोक–कलाएँ प्रेरणा–स्रोत बनकर एक मार्गदर्शक की भूमिका निभा रही हैं। यह कहना गलत न होगा कि लोक–कलाओं से आधुनिक कलाएँ प्रेरणा लेती रही है और आज उसी प्रेरणाओं सें तालीम हासिल कर नये मुक़ाम तक जा पहुची हैं। अफ्रीका की आदिवासी कला न होती तो शायद पिकासो की कला में घनवाद का आगाज़ नही होता। प्रसिद्ध कलाकार पॉल गोग्वॉ ने अफ्रीका की आदिमकला, कम्बोडिया–जावा की लोक कला से प्रेरणा ग्रहण की और उन पर आधारित प्रतीकों का व्यापक रूप से प्रयोग किया।

लोक–कलाएँ बुद्धिवादी नहीं बल्कि स्वाभाविक है और सीधे हृदय को आकर्षित करती हैं। कलाकार अपने मानस पटल में लोक कलाओं को जन्म नहीं देता अपितु हृदय में उसका सृजन करता है। उसका सारा सृजन जैसे प्रकृति द्वारा अपनाया गया हो । वह अपने भावों को सरल और सुगमता से रेखाओं द्वारा उकेरता है लोक–कलाकारों की स्वअनुभूति, चिन्तन एवं सरल अभिव्यक्ति ने उनकी कला को पूर्ण पवित्र और विशुद्ध रूप प्रदान किया है।

कलाओं के विकास का पहला चरण लोक–भवना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला सृजन और उपभोग दोनां में सामुदायिक स्पष्ट रूप से दिखाई पडता था, समूह में निवास करते थे ,समूह में मिल–जुलकर नाचते गाते थे, उत्सव मनाते थे। भित्ति–चित्र व साधारण आकृतियां समुदाय का कोई भी व्यक्ति प्रायः सामान्य योग्यता से बना लेता था। ये अपने रोजमर्रा की जिन्दगी में उपयोग आने वाली वस्तुओं को भी कलात्मक ढंग से सजाया–संवारा करते थे। समुदाय में कोई विशिष्ट व्यक्ति कलाकार नही होता था, तनिक भी अन्तर न था कि कौन सा व्यक्ति नर्तक है, कौन सा दर्शक है , और कौन श्रोता, अक्सर भूमिकाएं मिली–जुली होती थी। एक ही व्यक्ति कभी गायक या नर्तक होता था, तो कभी वह दर्शक बन जाता था। अन्तर था तो इनके व्यक्तिगत विशिष्ट क्षमताओं का जिसके हिसाब से वह कभी नर्तक ,सर्जक ,गायक, हुआ करते थे। अभी इन क्षेत्रो में विशेषज्ञता का अविष्कार नही हुआ था। विभिन्न कला–रूपों के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी होती थी और वे थोड़े बहुत अन्तर से उनमें सहयोगी बन सकते थे। सामाजिक संरचना में जटिलता आने के बाद कलाओं में भी विशेषीकरण आरम्भ हुआ, किन्तु लम्बे समय तक उनमें सामूहिकता के तत्व बने रहे और थोडे बहुत परिवर्तन के साथ आज भी बने हुए हैं।[1]

मानव की आत्मिक अभिव्यक्ति का सहज व सरल रूप होने के कारण लोककला संस्कृति को लोकप्रिय संस्कृति कहना गलत न होगा क्योकि यह संस्कृति व सभ्यता को समेटे हुए उसके विहंगम वातावरण की प्रस्तुति करती है। आदिम युग से लेकर आधुनिक युग तक सभ्यता ने जो भी मोड़ लिए हैं, लोकसंस्कृति अपने स्वाभाविक प्रवाह मे उनके इतिहास को समेटते हुए चली। प्रत्येक युग, काल में मानव किसी विशेष क्षेत्र में निवास करता था और जो भी कलात्मक गतिविधियां करता था वह उस क्षेत्र की कला संस्कृति के रूप में जानी जाने लगी जिसका प्रचलित नाम लोककला है। असम के सोलापिथ से निर्मित चित्र ;पश्चिम बंगाल के,

विष्णुपुर, मिदनापुर व कालीघाट क्षेत्र के पटचित्र;

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और हरियाणा के ग्रामीण इलाकों में मिट्टी की दीवारों पर उत्कीर्ण सांझी, अहोई, दिवाली सम्बन्धित सज्जात्मक चित्रण; बिहार की मधुबनी; राजस्थान की पिछवई तथा फड़ चित्र; पश्चिम बंगाल की कांथा व तरह–तरह की कशीदाकारी; महाराष्ट्र के वरलीचित्र; आन्ध्रप्रदेश की कलमकारी; आदि लोक कलाओं के साथ–साथ अनुष्ठानिक आकृतियां (विशेष रूप से मध्य प्रदेश के बस्तर की); उत्तरप्रदेश मे त्योहारो पर किए जाने वाले भूमि अंलकरण; मिट्टी व काष्ठ की मूर्तियाँ, खिलौने प्रचलित है।[2] लोक कलाओं में निहित सच्ची अभिव्यक्ति सरल रेखा, प्राकृतिक रंग कला की सहजता की वकालत करते है। विषय के संर्दभ में बात करे तो पशुओं जो ज़िन्दगी जीने का सही अर्थ बतलाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सम्पूर्ण ग्रामीण भारत में सर्जनात्मक प्रवृत्ति का जोश के साथ पुनः प्रचलन बढ़ा। कला की दुनिया में एक हलचल हुयी, भारतीय जीवन मूल्यो एवं संस्कृति का गुणगान पश्चिम में शुरू हुआ जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय कलाकरों में अपनी परम्परा, अपने परिवेश के लोगों से जुड़ी कलाओं से प्रेरणा लेने का उत्साह बढ़ा।[3] लोक–कलाएँ भारत की विशिष्ट परम्पराओं का वृहद संसार है जो अपनी शैलीगत विभिन्नता, रूप सैष्ठव, सृजनात्मकता और निजता लिए हुए अपनी अलग पहचान बनाए हुए है।लोककला में विषय–वस्तु, धार्मिक उत्सवों, पर्वों, संस्कारों व लोकानुरंजनों से जुड़ी होती है। लोक कलाकार जो कुछ भी परिवेश में घटित होते देखता है चाहे सांस्कृतिक या समाजिक सबका स्फूर्ति के साथ अंकन करता है। इनकी कलाओं में उपयोगिता तथा सौन्दर्याभिरूची के तत्व शामिल होते हैं। कला इनकी आत्मा में रची–बसी होती है उन्हे कृतियों के निर्माण में अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। ये कला को जीते ही नहीं अपितु पूजते भी हैं।

जनजाति कलाएँ एवं लोक कलाएँ केवल धरोहर ही नही अपितु भारतवर्ष की समृद्ध परम्परा ,सम्पन्न सभ्यता एवं जीवंत संस्कृति की कहानी है। ये कलाएँ असल में किसी भी समाज के जनमानस का आईना होती हैं। सदियों से अनाम–अंजाने हाथों से रचित होती हुयीं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हैं।[4] परिवर्तन प्रकृति का नियम है, समय बदला नए मुहावरे आए। नयी परिभाषाओं का दौर आया, नए परिवेश में कलाओं का दाखिला हुआ जिससे कला की जातीय चेतना के स्तर में बदलाव आया। देश के आजाद होने के बाद लोक–कलाओं ने कुछ तरक्की अवश्य की परन्तु बहुत कुछ दॉव पर लग जाने के बाद। चाहे वह दक्षिण बिहार की जादोपेटियन चित्रकला हो, महाराष्ट्र की वार्ली हो, सोनभद्र की जनजातीय चित्रकला हो ,उत्तर प्रदेश की सॉझी हो या फिर ओडिसा की सौरा चित्राकंन, इन पचास वर्षो में इनकी आत्मा पर कृत्रिमता का प्रहार हुआ है। इस प्रहार ने कुछ कलाओं को अच्छी खासी ख्याति दिलाई ,लेकिन कुछ लोककला बहुत पीछे छूट

गयीं। कई कलाएं तो लुप्त हो गईं और कई विकृत हो गयीं।[5]

समकालीन भारतीय कलाकारों की लोककला तथा संस्कृति में बढ़ती दिलचस्पी का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि काफी हद तक यह प्रवृत्ति राष्ट्रवादी रूझान क` कारण देशज स्रोतों की तरफ लौटना भी है। भारतवर्ष हमेशा से सामाजिक ,नैतिक व कलात्मक परम्पराओं का

परिरक्षक रहा है। भारतीय संस्कृति की जो अपनी विशिष्ठता रही है उसका प्रमाणचिन्ह एवं प्रेरक लोक कलाएँ रही हैं जो अध्यात्मिकता ,एकता तथा निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

आज लगभग हर क्षेत्र में कला बाज़ार का दखल है। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो या साहित्य, या फिर कला का। वर्तमान परिदृश्य में कला सूक्ष्म मानवीय व्यापार बन गई है जो मनुष्य को उसक` मानस सहित बदलती है। यह अंतःक्रिया है जो धीरे–धीरे अपना प्रभाव बढ़ाती है। यह प्रभाव लोक कलाओं पर भी दिखाई पड़ रहा है जो लोक–कलाओं मे बढ़ती व्यावसायिकता की ओर संकेत करता है। समकालीन कला जगत के अधिकांश कलाकार लोक–कलाओं से प्रेरणा लेकर सृजनरत है। सही अर्थों में लोक–कलाओं को आधार बनाकर अपनी अभिव्यक्ति कर रहे है ,नही मालूम की लोक–कलाओं को अचानक इतनी इज्जत देने के पीछे की मंशा क्या है। दरअसल इसलिए मैं ऐसा कह रही हूँ क्योंकि काफी लम्बे अर्से के बाद लोक–कलाओं से समकालीन कलाकारों का सरोकार बढ़ रहा है, वो भी देखा–देखी।

भूमण्डलीकरण के जयघोष ने कलाकारों की सृजनात्मक दृष्टि, निजी अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को अवरूद्ध कर दिया है। बड़े शहरों में रोजगार के अवसर एवं आधुनिकता की ललक ने लोक कलाकारों को अपने ग्रामीण

परिवेश से दूर महानगरो की ओर खींचा है जिससे यह सबसे ज्यादा प्रभावित हुयीं हैं। बाज़ारवाद की अर्थ लोलुपता के कारण या बिचौलियों की छद्म (शोषणवादी) प्रवृत्ति के कारण क्राफ्टमैनशिप शिल्पोन्मुखता ज्यादा हो रही है। लोक–कलाओं क` मूलस्वरूप में विरूपण (काट–छाट) कर लोककला की मौलिकता क` स्थान पर प्रचलन को महत्व मिल रहा है। व्यावसायिकता की चकाचौंध ने रातों–रात लोकप्रियता की आपाधापी पैदा की है। जिससे लोककला की जीवंतता, सृजनशीलता, एवं स्वाभाविकता का ह्रास हो रहा है। उदाहरण स्वरूप हम मधुबनी लोक चित्रकला और संथाल परगना की भित्ति चित्रकला को देखें तो बिहार में इन दोनो कलाओं को बचाने के लिए काफी प्रयत्न किए गए। कुछ एक कलाकारों ने विश्व ख्याति प्राप्त की। लेकिन इस ख्याति ने दोनो कलाओं को परम्परा से जुदा कर दिया। मधुबनी चित्रकला जो शुरू में अपनी सहजता और नैसर्गिकता के लिए जानी जाती थी, धीरे–धीरे दूरुहता और कृत्रिमता का आभास देने लगी। कला महिलाओं के आय का स्त्रोत तो अवश्य बनी लेकिन जहाँ पहले प्राकृतिक रंगो एवं बाँस की करची और कपड़े का प्रयोग होता था वहाँ अब नये रासायनिक रंग, कागज ,कलम ,परमानेण्ट मार्कर का व्यवहार होने लगा। संथाल परगना की कला अब दीवारों से हटकर कैनवास, कागज पर चित्रित होने के कारण इसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई, साथ ही कला संसाधनों में भी बदलाव हुआ हल्दी , गौमूत्र व गोबर की जगह रासायनिक रंग आ गये। उत्तर प्रदेश में मथुरा और वृदांवन के मंदिरों तथा आस–पास के घरों में साँझी चित्रांकन के लिए अब मिट्टी की ऊँची वेदी प्रायः निर्मित नही होती । अब यहाँ समतल पर ही स्टेंशिल या मुक्त हस्त से बुरादों से चित्राकंन किये जाते हैं। कम्प्यूटर की सहायता से बनाए गए स्टेंशिल का उपयोग भी किया जा रहा है।[6] बाजार की जरुरतो के चलते

श्रमसाध्य कार्य में कमी आई है। अगर इस बात गौर करे की लोक कलाओं में कृतिमता आने के पीछे उत्तरदायी कौन है, तो बाजार सर्वप्रथम तत्श्चात सामाजिक आर्थिक, तथा तकनीक बदलाव ।

प्रत्येक वर्ष कला–जगत में अनगिनत लेख कला–पत्रिकाओं में छपते है उनमें इक्का–दुक्का ही लोक–कलाओं के बाजारी हस्तक्षेप पर केन्द्रित होते है। आखिर कलाओं की उन्नति की बात करे ही कौन, जो उसके संरक्षक है वही उसके भक्षक भी। रही बात कला गैलरियों व संग्राहलयों की तो उनकी आमदनी का प्रमुख श्रोत आज कलाएँ ही बनी हुयीं हैं। मेरा ये कहना नही कि कलाओं का सरोकार आमजन या अन्तराष्ट्रीय स्तर तक न हो, मेरा इशारा सिर्फ और सिर्फ कलाओं को उपभोग्य (वस्तुमात्र) बनने से सचेत करना है क्योकि आज स्थिति ऐसी बन गयी है कि लोककला की धरा पर बाजार रूपी धारा प्रवाहित होने से लोक–कलाओं में जीवन के प्रति जो रागात्मकता थी वह निरन्तर घटती प्रतीत हो रही है।

अगर 1980 के दशक की बात करे तो यह वह दौर था जब लोककला भारतीय कलाकारों के आकर्षण का केन्द्र बनी क्योकि बात भारतीयता को अपनी कृतियो में समाहित करना था, भारतीय कला संस्कृति की निजता व अस्मिता को जीवित रखना था। वस्तुतः कलाकृतियों में लोककला के तत्वों का समावेश तथा समकालीन कला शैलियों में लोक जनजातीय और पूजा के अभिप्रायों को शामिल करना एक फैशन बनने लगा और यह प्रवृत्ति इस हद तक जोर पकड़ी कि कब लोककला व्यावसायिकता के प्रागण में आकर खड़ी हो गई पता ही नही चला। इस तेजी से बदलते समय में, उपभोक्तावाद में तब्दील होती लोक संस्कृति की शुद्धता की पहचान दुष्कर हो गई है।

लोक–कलाओं की लोकप्रियता इस कदर रही कि सभी तरह और सभी युगों की लोक–कलाओं को प्रशंसा मिली, बिना इस बात की परवाह किए कि सृजनकर्ता किस बौद्धिक मंशा से निरूपित कर रहा है और अखिर उनका प्रयोजन क्या है। समकालीन भारतीय कलाकार अपनी लोकलाओं का महत्व अच्छी तरह समझता है फिर भी आज ज्यादातर ऐसी कलाकृतियों निर्माण कर रहा जो पूरी तरह सर्जनात्मक या मौलिक नही कही जा सकती ऐसी युक्तियां मौलिकता का ढोंग कही जाएंगी क्योकि किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए ऐसी कृतियाँ बहुत बड़ी निराशा के सिवा कुछ नही।[7] इस व्यावसायिकता के चलते सिर्फ प्रदर्शनधर्मिता बढ़ रही है आज लोक कलाकार बदलते कला परिवेश के अनुरूप नए माध्यम ,रंगो, अकारों में बदलाव कर रहा है उसे डर है कि नए परिवर्तन के प्रति अगर वह सजग न हुआ तो कही पीछे न छूट जाए। सर्वविदित है जीवित वही है जो गतिमान है। लोक–कलाकारों ने समय के साथ तालमेल स्थापित करने के हेर–फेर में अपनी लोकप्रिय संस्कृति की निजी अस्मिता को ही दांव पर लगा दिया।

आज कलाकारों द्वारा लोक–रूपों को अपनी कलाकृतियों में समाहित करने या अपनाने के पीछे ऐसी कोई भावना नहीं है कि खुद को कलाकार उन सृजनकर्ताओं के परिवेश से जुडा पाते है बल्कि आज व्यावसायिकता के चलते उसकी बढती प्रासंगिकता ने इसे बढ़ावा दिया है।

वर्तमान समय में लोक कला संस्कृति की कला दीर्घाओ में अठखेलियॉं करती हुई नज़र आ रही हैं। यह सर्वविदित है कि हर तरह के समाज में धार्मिक, सामन्ती, समाजवादी कलाकार को संरक्षण की जरुरत रही है। कलाओं के संरक्षण–परम्परा का स्थान प्रतिस्पर्धी मांग ने ले लिया है और इसके चलते प्राइवेट गैलरियों की भरमार दिखाई दे रही है भले ही कला से उनका सरोकार न हो या वो इन कलाओं से जुड़ाव भी न महसूस करते हो फिर भी कला में बने हुए है ये एक तरफ कला के संरक्षक होने का दिखावा करते है तो दूसरी तरफ खरीद–फरोख्त को बढ़ावा देते है। अब ऐसी स्थिति आ गई है कि बाज़ारी जकड़ के चलते कला के मूलभूत तत्वों के लिए न तो कलाकार का आग्रह दिखाई देता है न तो संरक्षक का। हालाँकि इस बात से मैं इनकार नही कर रही कि बढ़ी हुई इन्ही कला गैलरियों से आज लोक व जनजाति कलाओं के विकास में योगदान मिल रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय आयाम तक पहुच गयीं हैं। इन कलाओं के लिए कई सकारात्मक कदम उठाये गये हैं। गुमनामी में जी रहे कई जनजाति, लोक कलाकारों ने ख्याति पाई, वाजिब सम्मान पाया।[8] पर वो कहते है न कि खोने का दुख पाने की खुशी से ज्यादा होता है। साथ ही जिन्दगी भर का मलाल रहता है। और जब बात वर्षो पुरानी किसी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति की कहानी कहती कलाओं की हो तब बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

हाल ही के कुछ वर्षो में सरकारी और गैर सरकारी कला संस्थाओं द्वारा इन कलाओं के संरक्षण और सर्वधन के उपाय किये जा रहे हैं, जिससे जनजाति एवं लोक–कलाओं के पारम्परिक स्कूल और व्याकरण लड़खड़ाये हैं। कला दीर्घाओं द्वारा आज आयोजित कियें जा रहे लोक–कला सम्बन्धी कला विमर्श का चिन्तन से कम और व्यावसायिकता से अधिक गहरा नाता होता है। कला संरक्षण के नाम पर किए जा रहे कर्म इन कलाओं के प्रदूषण का कारण बन रहे हैं।[9]

समकालीन कला जगत में लोककला को लोकप्रिय कला का टैग मिल गया है। लोकप्रिय कला का सम्बन्ध यहाँ शहरी भीड़ तथा आचरण वाले, अर्धशिक्षित समुदाय की मागों पर गढ़ी गई कला से है जिन्हे अर्ध–कलात्मक उत्पादन समझना चाहिए। अर्नाल्ड हाउजर अपनी पुस्तक ''कला का इतिहास दर्शन'' में लोक–कलाओं पर चर्चा करते हुए कहा है कि ''लोककला में उत्पादक और उपभोक्ता मुश्किल से अलगाए जा सकते है, और इनके बीच सीमा–रेखा हमेशा तरल रहती है।'' लोकप्रिय कला के मामले में इसके बरखिलाफ हम कलात्मक सृजन शक्ति से हीन, पूर्णतः निष्क्रिय जन समुदाय को देखते है जिसकी मांग को पूरा करने के लिए कलात्मक सामाग्री का व्यावसायिक उत्पादन होता है। लोककला की धरा पर बाजार की धारा का प्रवाह तेज होने से सबकुछ (सभ्यता, संस्कृति, परम्परा) बह जाने का खतरा है। लोक कलाकार की

स्वतन्त्रता एवं उसकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति बाजार के अनुरुप चलने को बाध्य होती जा रही है क्योकि अगर वो बाजार के अनुरुप नही ढलेगें तो वो ही ढल जायेगें।

आज हमें ऐसा दृष्टिकोण अपनाना होगा जो लोक–कलाओं के विकास और उत्कर्ष का मार्ग अवरुद्ध न करे, उन्हे अपनी दिशा खोजने का मौका दे और अपनी गति से आगे बढ़ने दे। समकालीन कलाकारों को यह प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि वह लोक–कलाओं को नयी वाणी तो दे मगर शब्द और अर्थ वही रहने दे। उनकी मूल पहचान सादगी, स्वाभाविकता, जीवंतता को बनाये रखने का यथासंभव प्रयास करे। भौतिक और व्यावसायिक शोर के बीच हम उस चीज की ओर ध्यान दे जिसे सृजन कहते हैं।

संदर्भः

[1] श्यामाचरण दुबे,परम्परा इतिहास–बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली–110 002,पाँचवीं संस्करणः 2014, पेज नम्बर–68,69

[2] प्राण नाथ मागों, समकालीन भारतीय कला, ,एक परिप्रक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया,नेहरु भवन,5 इन्स्टीट्यूशनल एरिया,फेज–प्प,बसन्त कुन्ज, नई दिल्ली, दूसरी संस्करणः 2011, पेज नम्बर–101

[3] प्राण नाथ मागों, समकालीन भारतीय कला, ,एक परिप्रक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया,नेहरु भवन,5 इन्स्टीट्यूशनल एरिया,फेज–प्प,बसन्त कुन्ज, नई दिल्ली, दूसरी संस्करणः 2011, पेज नम्बर–97

[4] उमेश वर्मा एवं ड़ॉ ज्योतिष जोशी, समकालीन कला अंकः18, 2000,ललित कला अकादमी, रवीन्द्र भवन,नई दिल्ली–110001, नई दिल्ली–110001, पेज नम्बर–26

[5] उमेश वर्मा एवं ड़ॉ ज्योतिष जोशी, समकालीन कला अंकः18, 2000,ललित कला अकादमी, रवीन्द्र भवन,नई दिल्ली–110001, नई दिल्ली–110001, पेज नम्बर–26

[6] ड़ॉ ज्योतिष जोशी,समकालीन कला अंकः46–47, 2015,ललित कला अकादमी, रवीन्द्र भवन ,35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,नई दिल्ली–110001, पेज नम्बर–62,63

[7] प्राण नाथ मागो, भारत की समकालीन कला,एक परिप्रक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया,नेहरु भवन,5 इन्स्टीट्यूशनल एरिया,फेज–प्प,बसन्त कुन्ज, नई दिल्ली, दूसरी संस्करणः 2011, पेज नम्बर–102

[8] उमेश वर्मा एवं ड़ॉ ज्योतिष जोशी, समकालीन कला अंकः18, 2000,ललित कला अकादमी, रवीन्द्र भवन,नई दिल्ली–110001, नई दिल्ली–110001, पेज नम्बर–26

[9] ड़ॉ ज्योतिष जोशी,समकालीन कला अंकः44–45, 2014, ललित कला अकादमी, रवीन्द्र भवन ,35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,नई दिल्ली–110001, पेज नम्बर–61,62

10 वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला, चौखम्भा संस्कृत संस्थान 38 यू.ए.,जवाहरनगर ,बगलो रोड नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण:1990

11 ड़ॉ राजेन्द्र बाजपेयी, मॉडर्न आर्ट, बाजपेयी पेन्टिग वर्क, चौक कानपुर।

12 वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास,लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद,पंचम संस्करण:2018

13 मीनाक्षी कासलीवाल 'भरती', ललित कला के आधारभूत सिद्वान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,जयपुर, द्वितीय संशोधित संस्करणः 2007

14 बद्री नरायण ,लोक संस्कृति में राष्ट्रवाद, लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद–211001, द्वितीय संस्करण:2011

हिना यादव
शोध छात्रा(द्वितीय वर्ष)
दृश्य कला विभाग
इलाहाबाद
विश्वविद्यालय,प्रयागराज